बच्चे बतौर भावी नागरिक और नागरिकशास्त्र

प्रकाश कान्त

चित्रः अदिति पुतिगे

नागरिकशास्त्र के पाठों की शुरुआत बच्चों के आसपास की दुनिया से हुई थी। परस्पर निर्भरता, ग्राम पंचायत, नगर पंचायत वगैरह! इन पाठों में दाखिल होने के पहले बच्चों ने छोटा-मोटा मैदानी काम किया था। एक तरह का सर्वे! उन्होंने गाँव की कुछ खास जानकारियाँ इकट्ठी की थीं। मसलन, गाँव में कुल कितनी किराना दुकानें हैं? पान, कपड़ा, जूते-चप्पल की दुकानों की संख्या क्या है? आटा चक्कियाँ कितनी हैं? ट्रैक्टर, मेटाडोर और ट्रक कितने हैं? असल में, उनसे इस तरह के सवालों की पूरी एक सूची बनवाई गई थी। कुछ सवाल उन्होंने ही सुझाए थे। जैसे, गाँव में कितने कुएँ-कुण्डी और हैण्डपम्प हैं? गाँव में कौन-कौन से सरकारी कर्मचारी रहते हैं या बाहर से आते-जाते हैं, और वे किस विभाग के हैं? तुम्हारे घर के लोगों को सबसे ज़्यादा किस विभाग के कर्मचारियों से काम पड़ता है? गाँव के सरपंच कौन हैं? तुम्हारी पंचायत में कितने वार्ड हैं, तुम किस वार्ड में रहते हो और तुम्हारे वार्ड मेम्बर का क्या नाम है? तुम्हारे यहाँ जो दूध सोसायटी है, उसके अध्यक्ष और सचिव कौन हैं? गाँव के कोटवार कौन हैं, वे क्या काम करते हैं? तुम्हारे यहाँ जो कोऑपरेटिव सोसायटी है, वहाँ क्या काम होता है, उसके अध्यक्ष और सचिव कौन हैं?

इस तरह के सर्वे से दो बातें हुई थीं। पहली, बच्चों ने अपने गाँव की आर्थिक और प्रशासकीय संरचना को समझा। दूसरी, वे स्वशासन के स्थानीय तौर-तरीकों से परिचित हुए। वैसे ये सर्वे या मैदानी काम बच्चों की प्रारम्भिक समझ बनाने-भर के लिए थे। इनसे बच्चों की अपने परिचित संसार को व्यवस्थित रूप से जानने की तैयारी हो जाती थी। ये बतौर शिक्षक मेरे लिए भी सुविधाजनक थे। पाठ में खुद प्रवेश करने और बच्चे को भी ले जाने में इससे आसानी हो जाती थी। इसके अलावा बच्चों को इस अध्ययन पद्धति का भी अभ्यास हो जाता था।

नवाचार की इन पुस्तकों में 'नागरिकशास्त्र' खण्ड में नागरिकता से सम्बन्धित पाठ तो थे ही, इसके अलावा कृषि, उद्योग व विकास यानी अर्थतंत्र से जुड़े भी बहुत सारे पाठ थे। कुल मिलाकर, मनुष्य की नागरिक और आर्थिक, दोनों तरह की गतिविधियों पर पाठ केन्द्रित किए गए थे।

पंचायती राज

जहाँ तक 'ग्राम पंचायत' जैसे पाठ की बात है, उनके लिए पंचायत काफी जानी-पहचानी संस्था थी। मानकुण्ड गाँव बड़ा था। उसकी पंचायत भी बड़ी थी। नज़दीक का गाँव धानी घाटी उसका एक वार्ड था। पाठ पढ़ाए जाने के दौरान एक दिन गाँव के सरपंच को बुलाकर उनसे भी कक्षा में बच्चों की बातचीत करवाई गई। संयोग से उन दिनों जो सरपंच थे, वे उसी स्कूल में पढ़ चुके थे और हम लोगों के विद्यार्थी रहे थे। सक्रिय और अच्छे विद्यार्थी! अपने पुराने स्कूल के विकास और बेहतरी में उनकी काफी दिलचस्पी थी। बच्चे भी उनसे परिचित थे। कुछ तो उनके ही गली-मोहल्ले के थे।

उस दिन उन्होंने बच्चों को पंचायत के गठन से लेकर कामकाज तक के बारे में काफी विस्तार से बताया। सरल और सीधे ढंग से! बच्चों के सवालों के जवाब भी दिए। पंचायत भवन गाँव के बीचों-बीच था। उसी से सटकर पीछे पुराना स्कूल भवन था जहाँ प्राथमिक के साथ-साथ, दो-तीन साल माध्यमिक विद्यालय की भी कक्षाएँ लगी थीं। बहरहाल, उस तरफ से गुज़रते-खेलते बच्चे पंचायत की बैठक वगैरह देखते रहते थे। इसके अलावा, आए दिन अपने घर-मोहल्ले में भी पंचायत को लेकर होती रहने वाली चर्चा सुनते रहते थे। ऐसे में, मैंने पाया कि गाँव के बच्चे होने के नाते उन्हें 'ग्राम पंचायत' जैसा पाठ समझने में काफी आसानी रही। मैंने बच्चों से सभी महिला-पुरुष पंचों के नाम पता करके आने को कहा था। सब तो नहीं लेकिन तीन बच्चे ज़रूर ला पाए जिनमें से एक उप-सरपंच और दूसरा पंचायत सचिव के परिवार का बच्चा था। महिला पंचों के नाम

छह-सात बच्चों ने मालूम कर लिए। उनमें से दो बच्चियाँ थीं। एक बच्ची एक महिला पंच के पड़ोस में ही रहती थी। इन नामों पर थोड़ी-बहुत चर्चा हुई। उनमें से कई को बच्चे जानते थे।

इन्हीं सबके बीच इस पर भी बात हुई कि उनके गली-मोहल्ले में पंचायत ने क्या काम करवाए! वैसे, सरपंच इस सिलसिले में बहुत कुछ बता ही चुके थे। बच्चों से हुई बातचीत में जो भी जानकारियाँ आईं, उनमें से ज़्यादातर हैण्डपम्प लगवाने और नालियाँ बनवाने की थीं। तब तक गाँव के गली-मोहल्ले में सीमेंट की सड़कें बनवाए जाने का सिलसिला शुरू नहीं हुआ था।

पिछले लगभग तीन दशकों से पंचायतें ग्रामीण राजनीति का मुख्य केन्द्र बन चुकी हैं। विशेषकर, त्रिस्तरीय पंचायत राज व्यवस्था लागू होने के बाद से! एक तरह से, वे राष्ट्रीय और प्रान्तीय राजनीति के लघु संस्करण के रूप में देखी जाने लगी हैं। इसके चलते ग्रामीण राजनीति में कई बदलाव भी आए हैं। बच्चे इन बदलावों को समझ भले ही नहीं पा रहे हों, देख तो रहे ही थे।

एक बात और, बच्चे त्रिस्तरीय पंचायत राज व्यवस्था लागू होने के पहले काम कर रही पंचायतों के बारे में ज़्यादा कुछ नहीं जानते थे, जबकि संविधान में वर्णित नीति निर्देशक तत्वों के आधार पर गठित पंचायतें आज़ादी मिलने के बाद से ही काम कर रही थीं। हालाँकि, उनका स्वरूप ढीला-ढाला था। न तो उनके चुनाव निर्धारित अवधि में होते थे और न वे आज की पंचायतों की तरह सक्षम थीं। उनकी तुलना में आज की पंचायतें सक्षम भी हैं और गाँवों के सार्वजनिक जीवन के केन्द्र में भी हैं। वैसे तो इनका गठन गैर-राजनैतिक आधार पर होता है लेकिन घोषित-अघोषित रूप से राजनैतिक दल उनके पीछे सक्रिय हुआ करते हैं। इससे चुनावों के समय राजनैतिक तनाव बढ़ जाता है। मानकुण्ड इस मामले में काफी संवेदनशील गाँव माना जाता था। नज़दीक के गाँव अरलावदा की तरह! कुछेक बच्चे पंचायत के भीतर-बाहर होने वाली इस उठा-पटक से काफी हद तक अवगत हुआ करते थे।

नई त्रिस्तरीय पंचायत राज व्यवस्था ने गाँवों में महिला और दलित नेतृत्व के उभरने और विकसित होने के रास्ते बनाए थे। इस पाठ के ज़रिए मैंने इस तथ्य को रेखांकित करने की कोशिश की। पंचायती राज के सन्दर्भ में अक्सर ग्राम स्वराज का भी उल्लेख होता है। हालाँकि, इस पंचायती राज का महात्मा गाँधी के सम्पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर ग्राम स्वराज से कोई सम्बन्ध नहीं था। यूँ भी आत्मनिर्भरता के विचार की अपनी सीमाएँ थीं। इसे छठी के 'परस्पर निर्भरता' के पाठ के ज़रिए विस्तार से

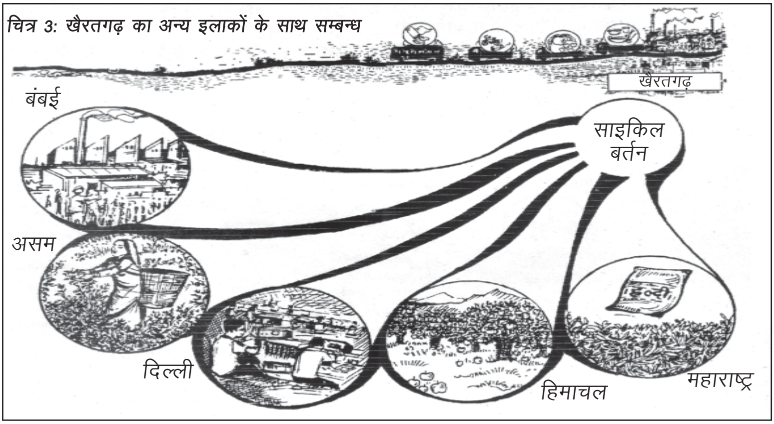

चित्र-1: *गाँव-शहर की परस्पर निर्भरता का चित्र। यह चित्र एकलव्य द्वारा प्रकाशित पुस्तक सामाजिक अध्ययन नवाचार से साभार।*

स्पष्ट कर दिया गया था। अधिकतम सम्भव आत्मनिर्भरता और पूर्ण आत्मनिर्भरता, ये दोनों एकदम अलग-अलग चीज़ें थीं। इनका अन्तर स्पष्ट करने में मुझे काफी मुश्किल आई।

इतिहास के पाठों से गुज़रते हुए बच्चों ने इतना तो जान लिया था कि मनुष्य ने शिकार युग से लेकर आज तक जो कुछ भी हासिल किया है, वह सब सामूहिक प्रयासों से ही किया है। व्यक्ति के निजी और एकल प्रयासों के पीछे भी मनुष्य की सामूहिक यात्रा के अनुभव, विचार एवं प्रेरणाएँ प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से काम करते रहे हैं। भले ही, आज सामूहिकता की वैसी ज़रूरत न महसूस होती हो लेकिन परस्पर निर्भरता की तो रहती है। बल्कि हर समय के समाज में प्रकट-अप्रकट रूप से यह निर्भरता रहा ही करती है। सामान्यतः आत्मनिर्भरता को परस्पर निर्भरता के उलट मान लिया जाता है। हालाँकि, ऐसा है नहीं! पूर्ण आत्मनिर्भरता का विचार तो यूँ भी एक परिकल्पना ही है। बहरहाल, परस्पर निर्भरता के विचार को जब बच्चों के सामने स्पष्ट किया गया तब पाठ में उल्लेखित उदाहरणों के अलावा उनके परिवार से जुड़े उदाहरण भी दिए। इसी क्रम में उन्होंने उनके गाँव के आसपास के हाट पीपल्या, इन्दौर, देवास जैसे शहरों और उन शहरों की उनके गाँव पर निर्भरता समझी। पाठ में दिए चित्र की तरह, अपने गाँव से आसपास के शहर जाने-आने वाली चीज़ों की तालिका बनाई। तालिका इतनी बड़ी बनती गई कि ब्लैक बोर्ड छोटा पड़ गया!

एक बात और थी, बच्चों को खुद गाँव का होने से पंचायत जैसे पाठ समझने में जितनी आसानी हुई, उतनी नगर पंचायत, नगरपालिका जैसी शहरों से जुड़ी संस्थाओं से सम्बन्धित पाठों को समझने में नहीं हो पाई। जबकि पास के शहर हाट पीपल्या वे अक्सर जाते-आते रहते थे। खासकर, बुधवार को लगने वाले हाट के दिन! शायद इस कारण भी कि शहरों की इन संस्थाओं से उनका सीधे-सीधे कोई काम नहीं पड़ता था। वे उनके परिचय संसार के बाहर थीं।

बच्चे और नज़दीक के हाट-बाज़ार

वैसे हाट पीपल्या के अलावा ज़्यादा नज़दीक के गाँव नेवरी में भी शुक्रवार को हाट लगता था लेकिन हाट पीपल्या का हाट बड़ा भी होता था और ज़्यादा आकर्षक भी! वह पशुओं का भी बड़ा हाट था। आसपास के कई गाँवों के लोग वहाँ हाट करने आते थे। काफी भीड़ रहती थी। हाट के दिन आसपास के कुछ गाँवों के दोपहर में लगने वाले स्कूल सवेरे की पारी में लगा दिए जाते थे। हाट में जाना बहुत सारे बच्चों के लिए एक किस्म के जश्न की तरह था। जब 70 के दशक में मैं घाट-नीचे* के गाँव करडी में पढ़ा रहा था तब वहाँ भी मैंने बच्चे ही नहीं, बड़ों तक में हाट जाने का बहुत ज़बरदस्त उत्साह देखा। आसपास के लगभग 12-13 गाँवों के केन्द्र पुँजापुरा में लगने वाला हाट भी बहुत बड़ा था। सोमवार को लगने वाला वह हाट सामान की खरीद-फरोख्त के अलावा आसपास के तमाम गाँवों के लोगों के अनौपचारिक मेलजोल का अवसर भी होता था। कई गाँव दोपहर तक काफी हद तक खाली हो जाते थे। हाट पीपल्या के हाट की भी लगभग यही स्थिति थी। हालाँकि, बाद के सालों में आसपास के कुछेक गाँवों में भी आधे-पौने हाट लगना शुरू होने से थोड़ा-सा फर्क आया था। मानकुण्ड-अरलावदा में भी ऐसे हाट लगने लगे थे। दुकानदार अपने दोपहिया वाहनों पर सामान लाते, चौक में कुछ घण्टों के लिए दुकानें लगाते और फिर लौट जाते।

हाट एक तरह से ग्रामीण अर्थतंत्र का प्रमुख घटक रहे हैं। इन हाटों का भी सप्ताह के दिनों के अनुसार एक पूरा चक्र होता था। रविवार को अगर तहसील मुख्यालय बागली में हाट लगता था तो सोमवार को पुँजापुरा! इसी तरह अगले दिन, अगले गाँव! एक चक्र चलता रहता। यह हाट में दुकानें लगाने वाले व्यापारियों के लिए सुविधाजनक रहता था। एक दिन एक जगह, दूसरे दिन दूसरी जगह का हाट! आसपास के शहर-कस्बों के व्यापारी हाट के दिन इन गाँवों में जल्दी पहुँचते। हाट में अपनी निर्धारित जगह पर दुकान लगाते।

** घाट-नीचे मानकुण्ड, बागली ब्लॉक का आदिवासी क्षेत्र है।*

चित्र-2: कक्षा छठवीं के नागरिक शास्त्र खण्ड के पाठ 'हाट बाज़ार और मण्डी' का एक चित्र। यह चित्र एकलव्य द्वारा विकसित सामाजिक अध्ययन, म.प्र. पाठ्यपुस्तक निगम से साभार।

शाम होने पर अपनी दुकान समेटकर लौट जाते, अगले दिन अगले हाट में जाने के लिए! पुस्तक में इस हाट चक्र को एक चित्र के द्वारा समझाया गया था। मैंने बच्चों की मदद से ब्लैक बोर्ड पर उस चक्र के आधार पर अपने गाँव के आसपास के गाँवों में लगने वाले हाटों का एक अलग चक्र बनाया। उनसे यह भी जानकारी निकलवाई कि उनमें से कितने बच्चे उन हाटों में गए हैं! कई बच्चे ऐसे निकले जो एक से ज़्यादा हाट गए थे।

आम तौर पर मालवी लोक जीवन में हाट के साथ जुड़वाँ तौर पर एक दूसरा शब्द प्रचलित रहा है – बाज़ार! हाट-बाज़ार! एक शब्द युग्म। अक्सर एकसाथ बोले जाने वाले! कई जगह हाट को बाज़ार ही कहा जाता है। खासकर, मराठीभाषी इलाके से लगी हुई पट्टी में, क्योंकि मराठी में हाट को बाज़ार कहा जाता है। फिर यूँ भी 'हाट' शब्द संस्कृत के 'हट्ट' का ही तद्भव रूप है जो बाज़ार के अर्थ में ही प्रचलित था। निमाड़ में हाट को बाज़ार ही कहा जाता है जबकि मालवा में ऐसा नहीं है। हाट अलग है और बाज़ार अलग! एकसाथ बोले जाने के बावजूद! इसी आधार पर बच्चों से इन दोनों के बीच के फर्क पर बात की थी।

ये हाट आदिवासी अंचलों में तो सप्ताह-भर में इकट्ठी करके रखी वनोपज और अन्य चीज़ें बेचने और ज़रूरत का सामान खरीदने का महत्वपूर्ण अवसर हुआ करते हैं। कक्षा के बच्चों का भी इन साप्ताहिक हाटों से बहुत शुरू से जुड़ाव रहता है। ऐसे में हाट, बाज़ार और मण्डी के बारे में उन्हें पढ़ाना-बताना, उनके अति-

परिचित संसार में ही उन्हें फिर से ले जाने जैसा था।

कई बच्चे जिस तरह ज़रूरी सामान खरीदने हाट पीपल्या के हाट जाते-आते थे, उसी तरह अनाज बेचने अपने घर के लोगों के साथ हाट पीपल्या मण्डी भी जा चुके थे। ऐसे में हाट, बाज़ार, मण्डी से सम्बन्धित पाठ उनके निजी अनुभव के निकट थे। साप्ताहिक हाट की ही तरह हाट पीपल्या अरलावदा-मानकुण्ड सहित आसपास के गाँवों के लिए एक बड़ी मण्डी था। यहाँ इस बात को फिर से याद दिलाना ज़रूरी है कि ग्रामीण बच्चे बहुत छोटी उम्र से ही खेती-किसानी के कामों में शामिल होने लगते हैं। घर के पशुओं को पानी पिलाने ले जाने से लेकर बोनी, निन्दाई, कटाई जैसे तमाम छोटे-बड़े कामों के समय वे मौजूद रहा करते हैं। सोयाबीन की कटाई हो या गेहूँ की, उन दिनों में बच्चों की उपस्थिति एकदम घट जाती है। मज़दूर और छोटे किसान परिवार के बच्चे तो बिलकुल ही नहीं आते। स्कूल काफी खाली रहा करते हैं। ज़ाहिर है, उनकी पढ़ाई का नुकसान भी होता है। लेकिन उनके घर-परिवारवालों को तात्कालिक आर्थिक लाभ, इस नुकसान की तुलना में बड़ा लगता है। वे इसे एक-दो जोड़े कपड़े या जूते-चप्पल वगैरह का इन्तज़ाम हो जाने की तरह देखते हैं।

पढ़ाई की तुलना में आर्थिक हित के बारे में सोचना तात्कालिक रूप से उतना गलत था भी नहीं! बहुत पहले दशहरा-दीपावली की लगभग 24-25 दिन की छुट्टियाँ लगा करती थीं। आम तौर पर ये दिन कटाई के दिन हुआ करते थे। ऐसे में त्योहार भी निपट जाते थे और कटाई भी! बच्चों की पढ़ाई का नुकसान भी नहीं होता था। लेकिन पढ़ाई के दिन बढ़ाने के इरादे से वे छुट्टियाँ निरस्त हो गईं। पढ़ाई के दिन भी बढ़ गए। शहर के बच्चों को इसका फायदा भी हुआ लेकिन गाँव के बहुत सारे बच्चे जो फसल कटाई के काम में लगते हैं, वे एक तरह से नुकसान में ही रहे। ऐसी बातों को ध्यान में रखते हुए बीच-बीच में इस तरह का सुझाव आता रहा था कि ग्रामीण शालाओं की छुट्टियाँ खेती-किसानी या फसलों के चक्र को ध्यान में रखकर तय की जानी चाहिए। हालाँकि, इस सुझाव पर शिक्षा विभाग या सरकार ने कभी ज़्यादा गौर नहीं किया।

बहरहाल, मण्डी के बारे में भी कई बच्चों के अपने अनुभव थे। मण्डी के बारे में पढ़ते वक्त, मेरे कहने पर उनमें से कुछेक ने अपने अनुभव कक्षा को सुनाए भी कि किस तरह उनके अनाज की बोली लगी, किस तरह तुलाई हुई, भुगतान कितना हुआ इत्यादि! इसमें दिलचस्प बात यह थी कि मैं मण्डी का पाठ पढ़ा ज़रूर रहा था लेकिन मैंने मण्डी का कामकाज भीतर से कभी देखा नहीं था। भले ही

मण्डी चुनावों में अन्य शिक्षक साथियों के साथ मेरी भी ड्यूटी लगती रही हो! इसके उलट, जो बच्चे मण्डी का पाठ पढ़ने जा रहे थे, उनमें से कुछ ने मण्डी भीतर से देख रखी थी। सम्भवतः यह मेरी नहीं बल्कि मेरे शिक्षक होने की सीमा थी। मेरे खयाल से शिक्षक को अपनी सीमाओं का एहसास होते रहना चाहिए ताकि उसका अपना सीखना भी जारी रहे! इस तरह, मण्डी का पाठ एक खास तरह के परिचित प्रसंग के साथ पढ़ा गया।

वस्तु विनिमय से बैंकिंग तक

नागरिकशास्त्र के कुछ पाठ पढ़ते-पढ़ाते हुए बच्चों से मुझे कई नई जानकारियाँ मिलीं या मेरी आधी-अधूरी जानकारी पूरी हुई। खासकर, बिना पैसे का लेन-देन जैसे पाठों में जो मुख्यतः आर्थिक लेन-देन में मुद्रा का उपयोग शुरू होने के पहले प्रचलन में रही वस्तु विनिमय जैसी आर्थिक क्रिया से सम्बन्धित पाठ था। मैंने देखा, गाँवों में अभी भी अनाज (वस्तु) के बदले दैनिक उपयोग की अन्य वस्तुओं का लेन-देन होता है। शहरों से लेन-देन का यह तरीका लगभग खत्म हो चुका है लेकिन गाँवों में अभी भी प्रचलन में है। आसपास की थोड़ी बड़ी जगहों से जो फल वगैरह बेचने वाले आते हैं, वे नकद के अलावा इस पद्धति से भी लेन-देन करते हैं, विशेषकर अनाज के बदले। वैसे प्लास्टिक या दीगर अटाला सामान के बदले भी लेन-देन होता है।

बच्चों ने यह भी बताया कि पूरे के बदले आधे हिस्से के बराबर तोलकर भी लेन-देन होता है, मतलब जितना अनाज लिया जाएगा, उसके बदले दी जाने वाली चीज़ अनाज के आधे वज़न के बराबर होगी। बच्चों ने गाँव में लेन-देन में प्रचलित इस तरह के और भी तरीकों के बारे में बताया। मुझे लगा कि गाँवों में सदियों से काम कर रहे अर्थतंत्र के पता नहीं कितने ज्ञात-अज्ञात ऐसे पहलू होंगे जिनका अभी भी पूरी तरह पता लगना शायद बाकी हो।

मौजूदा दौर की आर्थिक गतिविधियों का महत्वपूर्ण घटक होने से बैंक सम्बन्धी पाठ बच्चों के लिए काफी उपयोगी रहा। बैंक के कामकाज को देखना-समझना बच्चों के लिए लेन-देन के एक खास तरह के अनुभव से गुज़रना था। पिछले 30-40 सालों में बैंकिंग सेवाओं का जिस तरह का विस्तार हुआ है, उसके कारण कई गाँवों में भी बैंक सुविधा उपलब्ध हो चुकी है। मानकुण्ड में भी बैंक था। कई बच्चों को छात्रवृत्ति उस बैंक के माध्यम से ही मिलती थी। इस सिलसिले में पहले बात हुई है। इस तरह से बच्चे निजी तौर पर भी बैंक की कार्य पद्धति के बारे में काफी कुछ जानते थे।

इन्हीं सब में वे यह भी जान पाए थे कि बैंक अपनी बचत का पैसा सुरक्षित रखने का भी माध्यम है।

बैंकिंग व्यवस्था देखने-जानने के पहले तक, बचत का पैसा सुरक्षित रखने के किसी भरोसेमन्द माध्यम के बारे में उन्हें कोई विशेष जानकारी नहीं थी। ऐसा माध्यम जो आपका पैसा न सिर्फ सुरक्षित रखता हो और जब माँगा जाए तब तुरन्त देता भी हो, बल्कि जमा पैसे पर ब्याज के रूप में अतिरिक्त राशि भी देता हो। बच्चों के लिए यह एक खास तरह की जानकारी थी। इसके पहले तक तो वे यही जानते-समझते रहे थे कि पैसे घरों में पेटी-अलमारी या तिजोरी में सुरक्षित रखे जाते हैं जिसकी कभी-कभी चोरी भी हो जाती है। इस तरह से रखे गए पैसों पर कोई अतिरिक्त राशि भी नहीं मिलती। दादी-नानी की कहानियों में वे ज़मीन में गाड़कर रखे धन के बारे में भी सुना करते थे जिसकी रखवाली अक्सर कोई काला नाग करता बताया जाता था। बच्चों के पास इस तरह के गड़े हुए धन के कुछेक किस्से थे। एक-दो ने सुनाए भी। बच्चों को मज़ा आया। मुझे भी!

खैर, गाँव में जो बैंक था, उसमें कई बच्चों के परिवारवालों के खाते खुले हुए थे। फसल बेचने पर होने वाली आमदनी को खाते में जमा करने और बाद में ज़रूरत के अनुसार निकालने के बारे में वे घर में सुना करते थे। कुछ बच्चों को यह भी पता था कि पैसे पोस्ट ऑफिस में भी जमा किए जाते हैं। हालाँकि, पोस्ट ऑफिस और बैंक के काम के तरीकों में थोड़ा फर्क था लेकिन इस पर ज़्यादा चर्चा नहीं की गई। आठवीं के बैंक वाले पाठ के ज़रिए बच्चों को बैंक के कामकाज के बारे में विस्तार से जानने को मिला। उन्हें यह जानकर हैरानी भी हुई कि बैंक के ज़रिए पैसे बिना हाथ बदले भी एक से दूसरी जगह जा सकते हैं। हालाँकि, मोबाइल बैंकिंग के आज के दौर में तो पैसे एक से दूसरी जगह भेजने का चेक या डीडी वाला तरीका भी पिछड़ा हुआ लग सकता है लेकिन 80-90 के दशक में यह काफी सुरक्षित व सुविधाजनक माना जाता था, और बहुप्रचलित था।

बैंक कर्ज़ भी देते हैं, वह भी गाँव के सेठ-साहूकार द्वारा लिए जाने वाले ब्याज से कम ब्याज पर, इस बात को समझने में बच्चों को इसलिए ज़्यादा मुश्किल नहीं हुई क्योंकि सहकारी और भूमि विकास जैसे बैंक इस तरह के कृषि ऋण उपलब्ध करवाते थे। इसके अलावा, बैंक साइकिल दुकान, जूते-चप्पल की दुकान वगैरह जैसे छोटे-मोटे व्यवसायों के लिए भी सीमित अवधि के ऋण देते थे। कुछ बच्चों के परिवारों में इस तरह के ऋण लेकर व्यवसाय किए जा रहे थे। बच्चे इस लेन-देन के बारे में अपने घरों में होने वाली बातचीत में सुना करते थे। ऐसी बातचीत के माध्यम से बच्चों के पास जमा हुई जानकारियाँ मेरे लिए बैंक का पाठ पढ़ाने में काफी मददगार रहीं।

बैंक का लोगों के साथ सम्बन्ध

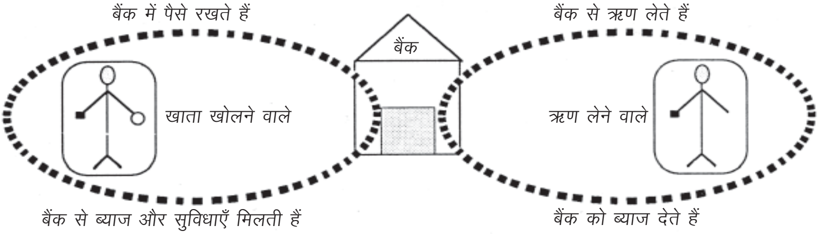

चित्र के अनुसार इन प्रश्नों के उत्तर दो:
1. बैंक को ऋण लेने वालों से क्या फायदा होता है?
2. बैंक में खाता खोलने से लोगों को क्या फायदा होता है?
3. यदि बैंक ऋण देना बन्द कर दे तो क्या होगा?

चित्र-3: *यह चित्र एकलव्य द्वारा प्रकाशित पुस्तक सामाजिक अध्ययन नवाचार से साभार।*

इसी के आधार पर मैं बच्चों को यह बता पाया कि बैंक किस-किस तरह के कर्ज़ देते हैं, बैंक खाते कितने प्रकार के होते हैं, पैसे कितनी तरह से जमा किए जा सकते हैं, कितनी तरह का ब्याज मिलता है, बैंक ऋण की अदायगी किस तरह से की जाती है इत्यादि। यूँ, वे अपने गाँव के उन सेठ-साहूकारों को जानते थे जिनके यहाँ बरसों से ब्याज पर उधारी लेन-देन का काम होता रहा था – मकान, ज़मीन, ज़ेवर, बरतन वगैरह गिरवी रखकर। उन्होंने अपने घरों में ऐसे सेठ-साहूकारों को लेकर प्रचलित किस्से भी सुन रखे थे। टीवी और वीसीआर (उन दिनों कुछ साल इसका काफी चलन रहा था) पर देखी कुछेक फिल्मों में भी उन्हें देख चुके थे। गाँव में इनका काफी आदर-सम्मान हुआ करता था। मतलब कि बरसों से कर्ज़ देने का काम करती आ रही इस एजेंसी के बारे में बच्चों को पता था। उनके इन्हीं मालूमात को आधार बनाकर मैंने बैंक और इस पारम्परिक एजेंसी के काम के तौर-तरीकों को एवं इनके बीच के अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयास किया था। ऐसा करते हुए, यह समझ पाया था कि बच्चे अपने अनुभव या आसपास के अनौपचारिक माध्यमों से बहुत कुछ पहले से ही जानते हैं जिसका पढ़ाते समय उपयोग पूरी कक्षा के लिए बहुत फायदेमन्द हो सकता है।

बच्चे, टैक्स और सरकार

आठवीं कक्षा में ही बच्चों ने टैक्स (कर) के बारे में विस्तार से जाना। यूँ, तो उन्होंने इस बारे में छुटपुट ज़रूर सुन रखा था इसलिए ‘टैक्स’ शब्द उनके लिए उतना नया नहीं था। वे

आपसी बातचीत में अपनी समझ के अनुसार इसका उपयोग करते थे। लेकिन मानक आर्थिक अर्थों में उन्होंने इसका ज़िक्र पहली बार छठी कक्षा के पंचायत वाले पाठ में सुना था। नए पंचायती राज में पंचायतों को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने के उद्‌देश्य से उन्हें स्थानीय तौर पर मकान, सफाई, बिजली इत्यादि पर कर वसूल करने का अधिकार दिया गया था। साप्ताहिक हाट में लगने वाली दुकानों पर भी वे कर वसूल कर सकती थीं। 'नगरों में सुविधाओं के प्रबन्ध' से जुड़े पाठ में बताया गया था कि इसी तरह के अधिकार नगर पंचायत, नगरपालिका आदि को भी दिए गए थे। वैसे यह भी सही है कि शहरों में तो इस तरह के टैक्स वसूल हो जाते थे लेकिन गाँवों में इन्हें वसूलना ज़रूर थोड़ा मुश्किल होता था।

बहरहाल, बच्चों ने छठी कक्षा में टैक्स के बारे में पढ़ा था। बाद में सातवीं-आठवीं के इतिहास के पाठों में भी कृषि पर लगान के रूप में लिए जाने वाले कर के बारे में जाना था जो बादशाह अकबर के पहले तक अनाज के रूप में लिया जाता था और बाद में नकद में लिया जाने लगा। राज्य की आय का तब वही सबसे बड़ा स्रोत था। इसलिए लगान की दर लगातार बढ़ती गई। अँग्रेज़ों के आने के बाद लगान वसूलने का काम जब स्थानीय ज़मींदारों के ज़िम्मे आया तब उन्होंने तयशुदा लगान के अलावा पच्चीसों तरह के कर मनमर्ज़ी से अपने लिए वसूलने शुरू कर दिए। मुगल काल में तो फिर भी गनीमत थी कि बारिश न होने से या किसी दूसरी वजह से फसल न होने या बिगड़ जाने की स्थिति में लगान वसूली स्थगित कर दी जाती थी। उसे अगले साल की लगान के साथ जोड़ देते थे या माफ कर देते थे। लेकिन अँग्रेज़ शासन में लगान न देने की स्थिति में ज़मीन नीलाम कर दी जाने लगी। किसानों के भीतर इसे लेकर आक्रोश पनपना स्वाभाविक था। इसके अलावा, अँग्रेज़ों के समय और भी कई नए कर लागू कर दिए गए थे। बच्चों ने इतिहास के पाठ में भी देखा था कि अपने कारखानों में बने माल को बिकवाने के लिए ब्रिटेन ने भारत से आने वाले माल को महँगा करने के उद्‌देश्य से किस तरह से कर बढ़ाए थे और भारत में अपने यहाँ बने माल को सस्ता रखने के लिए उन करों को लगाने से इनकार किया था।

इस तरह से बच्चों को पहले भी विभिन्न कक्षाओं में कई तरह के पाठों के ज़रिए कर के बारे में काफी कुछ जानने को मिला था। आठवीं के कर वाले पाठ में उन्होंने कर के बारे में विधिवत, व्यवस्थित और विस्तृत रूप से जाना। उनके लिए यह जानना दिलचस्प था कि वे चाहे सीधे-सीधे कोई कर न दे रहे हों लेकिन इसके

चित्र-4: यह चित्र एकलव्य द्वारा प्रकाशित पुस्तक सामाजिक अध्ययन नवाचार से साभार।

बावजूद वे अप्रत्यक्ष रूप से कर चुका रहे होते हैं। इन्हीं अप्रत्यक्ष करों के कारण कारखाने में कम लागत में बनी चीज़ बहुत सारे कर लगते-लगते उन तक आकर कितनी महँगी हो जाती है! इस सिलसिले में, मैंने उनसे साइकिल, घड़ी, टीवी, पंखा, मोटरसाइकिल, ट्रैक्टर जैसी दैनिक उपयोग की चीज़ों के बारे में बात की कि किस तरह से ये चीज़ें सिर्फ कर के कारण अपनी मूल कीमत से काफी ज़्यादा कीमत की हो जाती हैं। यहाँ तक कि जिन चीज़ों से वे बनी होती हैं, उन पर या माल ढुलाई में काम आने वाले डीज़ल पर कर लग जाने से भी वे चीज़ें महँगी हो जाती हैं। इस बिन्दु तक आने के बाद मुझे लगा था कि शायद कोई बच्चा पूछेगा कि कर लगने से अगर सामान महँगा ही होता है तो फिर सरकार कर लगाती ही क्यों है? लेकिन बच्चों की तरफ से ऐसा कोई सवाल नहीं किया गया। हो सकता है, उनके दिमाग में उस वक्त कुछ और चल रहा हो। कर या किसी और चीज़ के बारे में कुछ और सोच रहे हों! या सब कुछ उन्हें आपस में गड्ड-मड्ड लग रहा हो! कई बार ऐसी स्थिति में भी बच्चे सही और ज़रूरी सवाल नहीं पूछ पाते। जिसका यह मतलब कतई नहीं होता कि वे सब कुछ ठीक तरह से समझ रहे हैं। सो, मैंने ही अपनी तरफ से वह सवाल उनके सामने रखा। कुछ देर जवाब का इन्तज़ार किया। किसी की तरफ से जवाब न आने पर फिर कुछ बच्चों से सीधे पूछा। आखिर एक लड़के ने जवाब देने की कोशिश की, "इका से सरकार की कमाई होय, ओर कँई!" (इससे सरकार की कमाई होती है, और क्या!)

“इका से सरकार की कमाई होय, ओर कँई !”

जवाब सुनकर मैंने राहत महसूस की। पाँव टिकाने-भर की ज़मीन मिलने की राहत। वरना तो यही लग रहा था कि सवाल पूछकर खुद ही उलझन में पड़ गया हूँ। पढ़ाते वक्त, मुझे वह स्थिति झंझट-भरी लगती थी जिसमें बच्चों से सवाल भी मैं करूँ और जवाब भी मैं ही दूँ। अपने ही सवाल और जवाब की इस प्रक्रिया में समस्या यह रहती थी कि बच्चा किस जगह अटका हुआ है, यह पता ही नहीं चलता था। कक्षा में कभी-कभी भद्दी स्थिति निर्मित हो जाया करती थी। मैं इसे बजाय बच्चों की मानसिक निष्क्रियता समझने के, इसे शिक्षक-छात्र के बीच सम्प्रेषण प्रक्रिया के स्थगित हो जाने या टूट जाने की तरह देखता था। एक तरह का ब्लैक होल! जिसमें से बच्चों और खुद को बाहर निकालने की कोशिश मुझे ही करनी पड़ती थी। बहरहाल, उस वक्त बहुत कुरेदने के बाद एक बच्चे के दिए उस जवाब का सिरा पकड़कर मैंने अपनी तरफ से यह बताने की कोशिश की थी कि कर के इसी पैसे से सरकार अपना सारा कामकाज चलाती है। कर्मचारियों को तनख्वाह देती है, सड़क, पुल, बाँध बनवाती है, रेल लाइन डालती है, स्कूल-कॉलेज खोलती है।

“ये ल्लो, सरकार ये सब काम इना पेसा से करे तो उका पास उका पेसा नी रे कँइ?” (ये लो, सरकार ये सारे काम इन पैसों से करती है तो उसके पास अपने पैसे नहीं रहते हैं क्या?) लड़कियों में से एक सवाल आया था। मेरी राहत थोड़ी-सी और बढ़ गई थी। लगा था कि मेरी कोशिश बेकार नहीं गई है। मैंने मोटे-मोटे तौर पर बताया कि सरकार के पास पैसे कहाँ-कहाँ से आते हैं और उन पैसों से उसे कितने सारे काम करने पड़ते हैं। यहाँ तक कि गरीबी दूर करने के लिए चलाई जा रही जिन योजनाओं के बारे में उन्होंने पढ़ा है, वैसी कई योजनाओं में भी सरकार को पैसा लगाना पड़ता है। ऐसे में कई बार पैसा कम पड़ जाता है। सरकार को उधार भी लेना पड़ता है।

“ये ल्लो, सरकार ये सब काम इना पेसा से करे तो उका पास उका पेसा नी रे कँइ?”

“कई सरकार भी उधार ले!”

“कई सरकार भी उधार ले!” (क्या सरकार भी उधार लेती है!) मालवी में सवाल था।

“जदे, बापड़ी सरकार नी तो इत्ता पेसा काँ से लाय!” (तो फिर! नहीं तो बेचारी सरकार इतने पैसे कहाँ से लाए!!) मैंने मालवी में ही समझाया। इतने सब के बाद मुझे लगा था कि पाठ ठीक जगह पहुँच गया है। तसल्ली हुई थी। मुझे हमेशा लगता था कि पढ़ने-पढ़ाने के दौरान बच्चे के साथ-साथ शिक्षक की अपनी तसल्ली भी एक महत्वपूर्ण चीज़ हुआ करती है। वरना मामला कुछ-कुछ आधा-अधूरा-सा रहा हुआ लगता है। हालाँकि, कई बार इस तरह की तसल्ली नहीं भी हो पाती। खासकर, पढ़ना-पढ़ाना जब कभी मशीनी ढंग से निपटा हो! यूँ, नवाचार के ये पाठ मशीनी ढंग से पढ़ने-पढ़ाने की गुंजाइश कम ही देते थे।

“जदे, बापड़ी सरकार नी तो इत्ता पेसा काँ से लाय!”

प्रकाश कान्त: हिन्दी से एम.ए. और रांगेय राघव के उपन्यासों पर पीएच.डी. की है। शीर्ष पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ एवं आलेख प्रकाशित। चार उपन्यास – अब और नहीं, मक्तल, अधूरे सूर्यों के सत्य, ये दाग-दाग उजाला; कार्ल मार्क्स के जीवन एवं विचारों पर एक पुस्तक; तीन कहानी संग्रह – शहर की आखिरी चिड़िया, टोकनी भर दुनिया, अपने हिस्से का आकाश, संस्मरण – एक शहर देवास, कवि नईम और मैं, और फिल्म पर एक पुस्तक – हिंदी सिनेमा: सार्थकता की तलाश प्रकाशित हो चुकी हैं। लगभग 30 वर्षों तक ग्रामीण शालाओं में अध्यापन।

यह लेख *एकलव्य* द्वारा प्रकाशित पुस्तक *सामाजिक अध्ययन नवाचार* से साभार।